शकुन्तला

रखती थी प्रेमार्द्र सभीको वह अपने व्यवहारों से ;
पशु-पक्षी भी सुख पाते थे उसके शुद्धाचारों से ॥

H
811.42
G 959 Sh

मैथिलीशरण गुप्त

H
811.42
G959Sh

INDIAN INSTITUTE OF
ADVANCED STUDY
LIBRARY SIMLA

श्रीराम

Shakuntala

शकुन्तला

Maithilisharan Gupta

श्रीमैथिलीशरण गुप्त

Sahitya Sadan
Jhansi

साहित्य-सदन,
चिरगाँव (झाँसी)

CATALOGUED

उन्नीसवाँ संस्करण

२०२७ वि०

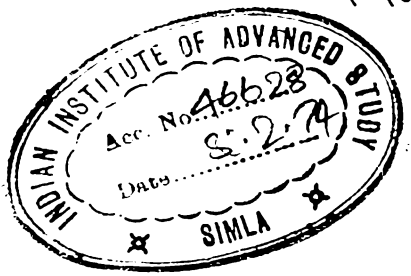

मूल्य
एक रुपया

811.42
G 959 Sh

Library IIAS, Shimla
H 811.42 G 959 Sh
00046628

श्रीसुमित्रानन्दन गुप्त द्वारा
साहित्य मुद्रण, चिरगाँव (झाँसी) में मुद्रित।
तथा
साहित्य-सदन, चिरगाँव (झाँसी) से प्रकासित।

भेट—राय कृष्णदास को
काशी-यात्रा की स्मृति में।
किस साहस से? बसते हैं बस
गुण ही मित्रों की कृति में।

श्रीगणेशाय नमः

शकुन्तला

मंगलाचरण

पञ्चवटी की छाया में जो
खेल खगों से करती हैं,
ममता-मूर्ति-समान मृगों के
मध्य समोद विचरती हैं।
मुसका रहे देखकर राघव
जिनकी यह अद्भुत लीला—
वही विदेह-नन्दिनी हम पर
रहें सदा करुणाशीला।

उपक्रम

मृगया - रत दुष्यन्त भूप को
एक कृष्ण-मृग मन भाया—
होम-धूम-धूसरित कण्व के
पुण्याश्रम में ले आया।
मृग के बदले मृगनयनी को
वहाँ महीपति ने पाया—
और यहाँ श्री कालिदास ने—
श्रवण - सुधा - रस बरसाया।

करके उस रस का आस्वादन
हुए विरस भी सरस अहा!
भारत में क्या सभी जगत में
जिसका सौरभ फैल रहा।
प्रस्तुत नूतन पद्य-पात्र यह
उसी सु-रस-हित किया गया,
अहोभाग्य है यदि इसमें वह
एक बूँद भी लिया गया।

—

जन्म और बाल्यकाल

एक बार मुनिवर कौशिक के
तप से सुरपति त्रस्त हुआ,
इन्द्रासन ले लें न कहीं मुनि,
यह विचार कर व्यस्त हुआ।
भेजी तब अप्सरा मेनका
उसने ऐसी रूपवती—
जिसे देखकर अपना संयम
रख न सके वे महायती!

यथा समय इस छलबल का फल
शकुन्तला का जन्म हुआ;
शुक्ल द्वितीया में प्रदोष से
चन्द्रकला का जन्म हुआ।
किन्तु साथ ले गई तपोधन-
मात्र मेनका मोदमयी,
और हाय! उस कुसुम कली को
वहीं विपिन में छोड़ गई!

जिस पर निज पक्षों की छाया
की थी शकुन्त द्विजवर ने—
मृदु कोंपल-सी वह मुनिकन्या
देखी कण्व मुनीश्वर ने।
दयाशील थे, उसे उठाकर
निज आश्रम में ले आये;
हुई सुता तब से शकुन्तला,
और पिता वे कहलाये।

वहाँ गौतमी तपस्विनी ने
उसे प्रेमपूर्वक पाला;
दीप-शिखा की भाँति कुटी में
फैला उससे उजियाला।
त्यागी तथा तपस्वी मुनिवर
कुछ गृहस्थ-से जान पड़े;
जग से उदासीन होकर भी
होते हैं मुनि सदय बड़े।

पुण्य तपोवन की रज में वह
खेल खेलकर खड़ी हुई;
आश्रम की नवलतिकाओं के
साथ साथ कुछ बड़ी हुई।

पर समता कर सकीं न उसकी
राजोद्यान - मल्लियाँ भी ,
लज्जित हुईं देखकर उसको
नन्दन - विपिन - वल्लियाँ भी !

उसके रूप - रंग-सौरभ से
महक उठा वह वन सारा ;
जीवन की धारा थी मानो
मञ्जु मालिनी की धारा ।
रखती थी प्रेमार्द्र सभीको
वह अपने व्यवहारों से ;
पशु-पक्षी भी सुख पाते थे
उसके शुद्धाचारों से ।

कभी घड़ों में भर भरकर वह
पौधों को जल देती थी ;
कभी खगों के, कभी मृगों के
बच्चों की सुध लेती थी !
सुग्गे कभी पढ़ाती थी वह ,
कभी मयूर नचाती थी ;
सहचरियों के साथ छाँह में
क्रीड़ा कभी रचाती थी ।

सीमा-रहित अनन्त-गगन-सा
विस्तृत उसका प्रेम हुआ ;
औरों का कल्याण-कार्य्य ही
उसका अपना क्षेम हुआ।
हिंसक पशु भी उसे देखकर
पैरों में पड़ जाते थे,
मुहँ में हाथ दाबकर धीरे
मीठी थपकी पाते थे !

बुद्धि कुशाग्र-भाग-सी उसकी
शिक्षा पाने में पैठी !
पाठ कण्ठ कर लेती थी वह
अनायास बैठी-बैठी।
देव-देवियों के चरित्र जब
प्रेम सहित वह गाती थी—
तब मालिनी नदी भी मानो
क्षण भर को थम जाती थी !

हंस और मीनों से उसने
जल में तरना सीखा था ;
शीतल और सुगन्ध पवन से
मन्द विचरना सीखा था।

होम-शिखा से सद्भावों का
जग में भरना सीखा था ;
आश्रम के उन्नत तरुओं से
परहित करना सीखा था ।

मुक्त नभोमण्डल-सा अविचल
निर्मल जीवन था उसका ;
ऊषा के प्रकाश-सा पावन
निरालस्य तन था उसका ।
उज्ज्वल, उच्च, हिमालय जैसा
अति उन्नत मन था उसका ;
प्रकट-अधिष्ठात्री-सी थी वह ,
धन्य तपोवन था उसका ।

गुरुजन की सेवा - शुश्रुषा
भक्ति सहित वह करती थी ;
शीतल-जल-युत कन्द-मूल-फल
उनके सम्मुख धरती थी ।
आते थे जो अतिथि वहाँ पर
अतिशय आदर पाते थे ;
मुक्त कण्ठ से उसके सद्गुण
गाते गाते जाते थे ।

नया नया उत्साह कार्य में
उसे सर्वदा रहता था ;
दया और ममता का मिलकर
स्रोत निरन्तर बहता था ।
उसकी भोली भाली आकृति
एक बार जिसने देखी—
मानो सुर-गुरु-कन्या ही की
अनुपम छवि उसने लेखी ।

ज्यों ज्यों बड़ी हुई वह त्यों त्यों
पिता कण्व का प्यार बढ़ा ,
किन्तु ब्याह का सोच हुआ फिर
जब यौवन का तार चढ़ा ।
भला कहाँ से वर आवेगा
इस बाला के योग्य यहाँ ?
कल्पलता के योग्य अवनि पर
पारिजात की प्राप्ति कहाँ !

पर सखियों के साथ सर्वदा
शकुन्तला हर्षित रहती ;
उसी एक पर-सेवा-व्रत के
ऊपर आकर्षित रहती ।

जब अनसूया - प्रियंवदा में
परिणय-चर्चा आती थी—
अब केवल सिर नीचा कर वह
मुसकाकर रह जाती थी।
नित्य उरोजों के उभार से
अंगों को कसने वाली—
वल्कल की चोली हँस हँसकर
ढीली करती थी आली।
फूलों के गहने पहने वह
विपिन-वासिनी सुकुमारी—
उतरी थी भूतल पर मानो
दिव्य लोक की नव-नारी।

———

दर्शन

एक वार शकुन्तला को सौंप आश्रम-भार—
सोम तीर्थ गये हुए थे कण्व करुणागार।
उन दिनों ही सर्वथा निज धर्म्म में अनुरक्त—
आ गये सहसा वहाँ दुष्यन्त मृगयासक्त।

उस शुभाश्रम के द्रुमों की देखते ही छाँह—
फड़कने उनकी लगी शुभ-शकुन सूचक बाँह।
तब हुआ फल के विषय में इस प्रकार विचार—
मुक्त है सर्वत्र ही भवितव्यता का द्वार।

सोचते ही थे अभी इस भाँति वे भूपाल,
"इधर आली ! इधर" यह वाणी हुई तत्काल।
चौंककर खिच-से गये उस ओर वे सस्नेह,
था वहीं भवितव्यता का द्वार निस्सन्देह।

कर रही थी जो अलौकिक रूप-रस की वृष्टि,
जा पड़ी सखियों समेत शकुन्तला पर दृष्टि।
जो कि आश्रम-वाटिका में सींचती थी नीर,
नव्य-यौवन-पूर्ण जिसका था सु-भव्य शरीर।

शुद्ध होम-शिखोपमा उस सुन्दरी को देख—
रह गये निस्तब्ध-से नृप सफल लोचन लेख।
व्यर्थ भूषण-भार से बढ़ता न उसका मान,
थी स्वयं ही वह सुवर्णा रत्नराजि-समान।

भ्रू कुटिल थे किन्तु सुस्थिर, पलक-पट अनमोल,
दीर्घ थे, द्युति-पूर्ण थे पर थे न लोचन लोल।
भाव-सा झलका रहे थे विमल गोल कपोल,
घोल देते थे सुधा-सी सरल मुख के बोल।

घट-बहन से स्कन्ध नत थे और करतल लाल,
उठ रहा था श्वास-गति से वक्ष देश विशाल।
श्रवण-पुष्प-परिग्रही था स्वेद-सीकर-जाल,
एक कर से थी सँभाले मुक्त-काले बाल।

पुष्प-राशि-समान उसकी देख पावन कान्ति—
भूप को होने लगी जङ्गम-लता की भ्रान्ति—
क्या मनोमिष से उन्हींके जानकर अरविन्द—
घूमता था वर वदन पर एक मुग्ध मिलिन्द।

किन्तु अलि की ओर से दृग फेर बारंबार—
सीखने-सी वह लगी भय-मिष भृकुटि-संचार !
अन्त में कहने लगी—अब क्या करूँ मैं हाय !
आलियों ने तब बताया इस प्रकार उपाय—

"इस समय दुष्यन्त को ही रक्षणार्थ पुकार ,
है तपोवन का निरन्तर भूप पर ही भार ।'
यों वचन सुन और अवसर देखकर अनुरूप—
आप यह कहते हुए प्रकटित हुए झट भूप—

"पौरवों के हाथ जब तक है सु-शासन-भार ,
कौन करता है यहाँ पर ढीठ अत्याचार ?"
देखकर आया अचानक भूप को निज गेह—
चौंककर आदर दिया सबने उन्हें सस्नेह ।

हुई मुग्ध शकुन्तला भी नृपतिवर को देख ,
मान देता था जिन्हें अमरेन्द्र भी सविशेष ।
उस अनोखे अतिथि को, आतिथ्य में चुपचाप ,
दे दिया उसने हृदय भी शीघ्र अपने आप ।

द्रवित दोनों ही हुए पाकर प्रणय का ताप ;
आलियों के बीच से होने लगा अनुलाप ।
आदि हो तो हो नहीं है उस कथा का अन्त ,
था समय रति-काम-युत वह मूर्तिमन्त वसन्त !

विवश आया बिछुड़ने का समय दोनों ओर—
बिछुड़कर भी वे परस्पर बन गये चितचोर!
मार्ग में, मिस से ठिठकती, ठहरती सौ वार—
गई व्यग्र शकुन्तला नृप को निहार निहार।

इधर नृप को भी विवश करना पड़ा प्रस्थान,
किन्तु उनका मन वहीं पर हो गया रममाण!
अवश तन ने भी दिखाई अलसता तत्काल—
अस्तु आश्रम के निकट ही दिये डेरे डाल।

———

पत्र

शकुन्तला की चाह में होकर अधिक अधीर,
फिरते थे दुष्यन्त नृप मञ्जु मालिनी-तीर।
मञ्जु मालिनी-तीर विरह के दुख के मारे,
करते विविध विचार मिलन की आशा धारे।
होती है ज्यों चाह दीन-जन को कमला की,
थी चिन्ता गम्भीर चित्त में शकुन्तला की।

होता जिसका ध्यान ही अति अप्रिय सब काल,
अनुभव ऐसे विरह का क्यों न करे बेहाल?
क्यों न करे बेहाल विरह की पीड़ा भारी,
जान पड़े क्यों भार न जग की बातें सारी?
प्रिय मिलनातुर कौन नहीं सुधबुध है खोता?
अहो! विरह का समय बड़ा ही दुस्सह होता।

"दुखदाई हो आज यह शीतल सुखद समीर,
प्रिया विना करता व्यथित मेरा तप्त शरीर!
मेरा तप्त शरीर न सुख इससे पाता है,
उलटा आग-समान उसे यह झुलसाता है।
विज्ञों ने यह बात बहुत ही ठीक बताई—
बन जाती है कहीं सुधा भी विष दुखदाई।

करता है तू पंचशर! विद्ध यदपि मम चित्त,
हूँ कृतज्ञ तेरा तदपि मैं इस कार्य्य-निमित्त।
मैं इस कार्य्य-निमित्त मानता हूँ गुण तेरा,
इस प्रकार उपकार भार! होता है मेरा।
जिस सुमुखी का विरह धैर्य्य मेरा हरता है,
उसके ही मिलनार्थ प्रेरणा तू करता है।"

इस प्रकार से घूमते छोड़ काम सब और,
देखी नृप ने निज प्रिया एक मनोहर ठौर।
एक मनोहर ठौर पड़ी पल्लव-शैया पर,
क्षीण कलाधर कला-सदृश तो भी अति सुन्दर।
लगे देखने नृपति उसे तब बड़े प्यार से,
देख न कोई सके खड़े हो इस प्रकार से।

जैसे उसके विरह में व्याकुल थे दुष्यन्त ,
वह भी थी उनके विना व्यग्र, विकल अत्यन्त ।
व्यग्र, विकल अत्यन्त, नहीं धीरज धरती थी ;
प्रेम-सिन्धु-बढ़वाग्नि-बीच जल जल मरती थी ।
सब शीतल उपचार दहन करते थे ऐसे—
नव नलिनी को तुहिन दहन करता है जैसे ।

होती ज्यों निशि में विकल कोकी कोक-विहीन ,
थी त्यों ही वह प्रिय विना विरह विकल, अति दीन
विरह विकल, अति दीन न कल पाती थी पल भर ,
दोनों सखियाँ यदपि यत्न में थीं अति तत्पर ।
क्षण क्षण में विरहाग्नि धैर्य उसका थी खोती ।
ओषधियों से दूर मानसिक व्याधि न होती ।

इस दुख से ही दुखित हो सखियों का मत मान
उस मृगनयनी ने लिखा प्रेम-पत्र धर ध्यान ।
प्रेम-पत्र धर ध्यान लिखा दुष्यन्त भूप को
लोकोत्तर लावण्य, मनोमोहक स्वरूप को
मानो उसने सुना स्वयं आशा के मुख से—
है बस यही उपाय मुक्तिदाता इस दुख से

करते रचना पत्र की धरे हुए प्रिय ध्यान,
वह वियोगिनी बन गई संयोगिनी-समान!
संयोगिनी-समान दृष्टि-पथ में आती थी;
शब्द सोचती हुई आलौकिक छवि पाती थी।
उन्नत थी भ्रू-लता, नयन थे मन को हरते,
पुलकित युगल कपोल प्रगट पति में रति करते।

"प्रियवर! मैं तब हृदय की नहीं जानती बात,
सन्तापित करता मुझे कुसुमायुध दिन-रात।
कुसुमायुध दिन-रात घात करता रहता है,
तब मिलनातुर देह दाह दुस्सह सहता है।
विधु-वियोग से निमुद कुमुदिनी होती सत्वर,
पर विधु-मन की कौन जान सकता है, प्रियवर।"

प्यारे पति को पद्य में लिखकर यों सब हाल,
लगी सुनाने वह उसे सखियों को जिस काल।
सखियों को जिस काल पत्र वह लगी सुनाने,
चन्द्र-वदन से प्रेम - सुधा - धारा बरसाने।
सफल मान दुष्यन्त सुकृत इससे निज सारे,
होकर झटपट प्रकट वचन बोले यों प्यारे—

CENTRAL INSTITUTE OF ADVANCED STUDY
Acc. No. 16623
Date.....
SIMLA

"देता है कृशतनु ! तुझे ताप मात्र ही काम,
किन्तु भस्म करता मुझे निशिदिन आठों याम।
निशिदिन आठों याम काम है मुझे जलाता,
दहन-दुःख अनुभवी तदपि वह दया न लाता।
कुमुद्वती का दिवस हास्य ही हर लेता है,
पर विधु को वह नाम शेष-सा कर देता है।"

सहसा ऐसे मिलन से हुए भाव जो व्यक्त,
उनके लिखने में अहो ! हम हैं यहाँ अशक्त।
हम हैं यहाँ अशक्त मिलन-सुख समझाने में,
प्रणयिजनों के चरित नहीं आते गाने में।
कार्य्य कथन-सादृश्य किया जा सकता कैसे ?
समझेंगे बस वही मिलें जो सहसा ऐसे।

अवधि

होकर अति सिद्ध विशुद्ध प्रेम के तप में,
करके गान्धर्व विवाह लता-मण्डप में।
दोनों प्रेमी कृतकृत्य हुए निज मन में,
वह मौन तपोवन पलट गया उपवन में!
थी शकुन्तला गुणवती सुन्दरी जैसी—
दुष्यन्त भूप की गुणावली थी वैसी।
सुख और शान्ति के श्रेष्ठ भाव मिल मिलकर,
करते थे नित्य नवीन खेल खिल खिलकर।
हर्षित होते थे हार गूंथकर दोनों,
पहनाते थे फिर उन्हें परस्पर दोनों।
पल पल में फिर वे उन्हें बदल लेते थे,
मिलकर पौधों को कभी सलिल देते थे।
प्रिय विना प्रिया से रहा नहीं जाता था,
पर उनको उसका हारण न पतियाता था!
कहते थे हँसकर भूप गिरा तब ऐसी—
'है तुम दोनों की दृष्टि एक ही जैसी।'

फल-चिह्न दिखाती हुई, हर्ष में भूली—
नृप की शकुन्तला प्रीति-लता-सी फूली।
पर फल आने तक रह न सके वे वन में,
लाचार, बँधे-से गये राज्य-बन्धन में।

गमनोद्यत वे जिस समय हुए आश्रम से—
दोनों सखियों ने कहे वचन यों क्रम से—
"हे देव! हमारे दोष न मन में लाना—
निज शकुन्तला को वहाँ भूल मत जाना।"

बोले नृप हँसकर—"ठीक कहा है तुमने;
फिर भी क्यों इतना कष्ट सहा है तुमने?
कैसे हम मन में व्यर्थ दोष लावेंगे?
जो मन में है, किस भाँति भूल जावेंगे?"

तब शकुन्तला ने कहा, बहा रस-नद-सा;
"प्राणेश्वर! अब कब" कंठ हुआ गद्गद-सा।
हो सका न पूरा वाक्य वेग के कारण,
हो गया असम्भव हाय! धैर्य का धारण।

पोंछा उसका दृग-नीर स्वयं नृपवर ने,
जिससे प्रवाह में हृदय लगा था तरने।
निज नामांकित मुद्रिका उसे पहनाई,
इस भाँति मिलन की अवधि विशेष बताई—

प्रतिदिन तू मेरा एक एक नामाक्षर—
गिनती रहना हे प्रिये ! सु-निश्चय रखकर।
जब तक सब अक्षर धन्य गण्य हों तेरे—
लेने आवेंगे तुझे योग्य जन मेरे।"

देकर प्रबोध यों प्राण-प्रिया के उर को—
दुष्यन्त किसी विध गये हस्तिनापुर को !
पर शकुन्तला की गई न चिन्ता फिर भी,
वह ध्यान-मूर्ति-सी हुई महा अस्थिर भी।

—०—

अभिशाप

शान्ति-स्थान कण्व मुनि के पुण्याश्रमोद्यान में,
बाह्यज्ञान-विहीन, लीन अति ही दुष्यन्त के ध्यान में,
बैठी मौन शकुन्तला सहज थी सौन्दर्य से सोहती,
मानो होकर चित्र में खचित-सी थी चित्त को मोहती।
होके भी प्रकृत स्वरूप उसका अप्राकृत श्रेष्ठ था,
लज्जा से मुख-चन्द्र देख उसका अम्भोज निश्चेष्ट था।
सूना होकर भी शरीर उसका आभूषणों से अहा!
दूना दर्शन योग्य, भूषण विना, सौन्दर्य्य था पा रहा।
दोनों ओर कपोल देश पर से थे केश छूटे पडे,
होके लोल समीर से ललित यों वे दीखते थे बड़े—
श्रेणीवद्ध मुखारविन्द पर थे वे भृङ्ग मानो अड़े,
थे किंवा घन-वृन्द इन्दुवर को स्वच्छन्द घेरे खड़े॥
थे चाञ्चल्य-विहीन लोचन खुले सौन्दर्य के सद्म यों—
पीते थे मकरन्द भृङ्ग सुख से पाके खल पद्म ज्यों—
था ऐसा वपु वन्दनीय उसका स्वर्गीय शोभा-सना—
मानो लेकर सार भाग शशि का ही भार-द्वार बना!

भोली सूरत थी रसार्द्र उसकी प्रेमाम्बु की वृष्टि में ,
होली सुन्दर रूप की चरम थी सीमा सभी सृष्टि में ।
थे स्वाभाविक भव्य भाव उसके, है वेश की क्या कथा ?
बैठी व्यस्त वसन्त के विरह में हो वन्य-देवी यथा !

नाना दृश्य नये समक्ष उसके थे चित्तहारी वहीं—
आते थे पर लक्ष्य में न उसके वे एक कोई कहीं ।
सर्वत्र विशाल नेत्र उसके दुष्यन्त को देखते ;
पाण्डु-ग्रस्त समस्त वस्तु में ज्यों पीत ही लेखते ।

छाई तत्र नितान्त शान्ति सहिता सर्वत्र ही क्षान्ति थी ,
प्यारी कान्ति विलोक इन्द्र वन की होती सदा भ्रान्ति थी ।
क्रीड़ा में वन-जीव थे रत सभी आनन्द से, क्षेम से ,
थे स्वच्छन्द जहाँ तहाँ उड़ रहे पक्षी बड़े प्रेम से ।

पूरी निर्मल नीर से बिह रही थी पास ही मालिनी ,
वृक्षाली जिसके प्रतीर पर थी भूरि-प्रभा शालिनी ।
लीला से लहरें अनेक उठती थीं लीन होतीं तथा—
मीनाक्षी सरिता कटाक्ष करती भ्रूक्षेप से थी यथा !

नीलाकाश अपार ऊपर यथा फैला हुआ था बड़ा ,
शस्यश्यामल निम्नातल तथा था श्रेष्ठ नीचे पड़ा ।
थोड़ा भी इनका परन्तु उसको था ध्यान होता नहीं ,
चिन्ता-युक्त पवित्र चित्त उसका अन्यत्र ही था कहीं !

ऐसे अद्भुत ध्यान के समय में, 'विख्यात क्रोधी महा'—
दुर्वासा मुनिवर्य्य धीर गति से दैवात् पधारे वहाँ।
तेजोवन्त शरीर शुद्ध उनका अत्यन्त ही कान्त था,
मार्तण्डोपम वक्रकुण्डल तथा उद्दण्ड भी शान्त था।

दीर्घश्मश्रु जटा - समेत उनके थे केश सारे सित,
होता था मुख दीप्तिमान उनसे यों सर्वदा शोभित।
होके मुक्त नितान्त मेघ गण से वर्षान्त ज्यों रवि—
पाता रश्मि-समूह संयुत सदा तेजोमयी है छवि।

होने से प्रिय प्रेम मुग्ध उसने आते न जाना उन्हें,
वैसी ही अतएव निश्चल रही मानो न माना उन्हें!
चिन्ता से जिसको न आप अपने देहादि का ज्ञान हो—
क्या आश्चर्य, न और का यदि उसे आते हुए ध्यान हो!

आया जान उन्हें, उसे पवन भी मानो जगाने लगी,
खींचा वस्त्र अनेक वार उसने, तो भी न बाला जगी।
थी प्यारे पति के समीप वह तो कैसे भला जागती?
तन्द्रा निश्चल प्रेम की सहज ही बोलो किसे त्यागती?

माना किन्तु महापमान अपना जी में उन्होंने इसे,
क्रोधाधिक्य विचारयुक्त रखता संसार में है किसे?
होते खिन्न कदापि वे न सहसा यों सोचते जो कहीं,
'होता है मन एक ही मनुज के दो चार होते नहीं।'

होके रुष्ट अतः अतीव मन में पाके वृथा ताप वे,
कर्ण क्रूर कठोर कण्व-रव से देने लगे शाप वे।
बोले शीघ्र पसार पाणि अपना, यों रूक्ष-वाणी निरी—
ज्यों वाताहत मेघ से उपल की धारा धरा पै गिरी।

"चिन्ता में जिसकी निमग्न रहके देखा न तूने मुझे;
स्वामी मैं तप का, तथापि कुछ भी लेखा न तूने मुझे।
आवेगा तब-ध्यान ही न उसको, कोई कहे भी न क्यों;
पीछे पूर्व-कथा-प्रमत्त जन को है याद आती न ज्यों।"

यों क्रोधान्ध, विचार-शून्य मुनि ने अत्युग्रता से कहा,
तो भी ध्यान हुआ न भंग उसका सो पूर्व-सा ही रहा!
वर्षा में प्रिय चन्द्र-दर्शन-रता होती चकोरी जहाँ—
मेघों की घोषणा तब उसे देती सुनाई कहाँ?

थी दोनों सखियाँ समीप वन में, उत्फुल्ल मालोपमा;
दौड़ी वे सुन शाप और मुनि से माँगी उन्होंने क्षमा।
होके शान्त किसी प्रकार तब वे बोले यही अन्त को—
"आवेगी सुध मुद्रिका निरख के उद्भ्रान्त दुष्यन्त को।"

—

बिदा

शान्त हृदय वात्सल्य-करुण से सना हुआ है,
कण्व-तपोवन आज सदन-सा बना हुआ है!
शकुन्तला की बिदा आज है प्रिय के घर को,
विदित हुआ सब वृत्त हर्षपूर्वक मुनिवर को।
वे पुत्री के लिए चाहते थे वर जैसा—
निज सुकृतों से स्वयं पा लिया उसने वैसा।
यह विचार कर तुष्ट हुए वे अपने मन में,
साज सजाये गये बिदा के पावन वन में।
शकुन्तला क्या जाय हाय! वल्कल ही पहने?
वन-देवों ने दिये उसे सुन्दर पट-गहने।
सखियों ने शृङ्गार किया उसका मनमाना,
जिसको अन्तिम समझ बहुत कुछ उसने जाना।
प्रिय दर्शन का उसे यदपि उत्साह बड़ा था,
पर स्वजनों का विरह-ताप भी बहुत कड़ा था।
विकल हुई वह उभय ओर की बाधा सहती,
ऊपर-नीचे भूमि यथा आकर्षित रहती।

चारों ओर उदास भाव आश्रम में छाये,
सखियों के भी नेत्र आँसुओं से भर आये।
किन्तु उन्होंने कहा—"सखी ! कुछ सोच न कीजो,
प्रिय को उनकी नाम-मुद्रिका दिखला दीजो।"

शकुन्तला कुछ कह न सकी गद्गद होने से,
था पवित्र कुछ और न उसके उस रोने से।
भावी जीवन प्रेम-पूर्ण हो खिल सकता है ?
यह विछुड़ा धन किन्तु कहाँ फिर मिल सकता है ?

त्यागी थे मुनि कण्व, उन्हें भी करुणा आई,
होती है बस सुता धरोहर, वस्तु पराई।
होम-शिखा की परिक्रमा उससे करवाई,
और उन्होंने स्वस्ति-गिरा यों उसे सुनाई—

"तुझको पति के यहाँ मिले सब भाँति प्रतिष्ठा,
ज्यों ययाति के यहाँ हुई पूजित शर्मिष्ठा।
सार्व - भौम पुरुपुत्र हुआ था उसके जैसे—
तेरे भी कुल - दीप दिव्य औरस हों वैसे—

"गुरुओं की सम्मान सहित सुश्रूषा करियो,
सखी-भाव से हृदय सदा सौतों का हरियो।
करे यदपि अपमान, मान मत कीजो पति से ;
हूजोअति सन्तुष्ट स्वल्प भी उसकी रति से ;

"परिजन को अनुकूल आचरण से सुख दीजो,
कभी भूलकर बड़े भाग्य पर गर्व न कीजो।
इसी चाल से स्त्रियाँ सुगृहिणी-पद पाती हैं।
उलटी चलकर वंश-व्याधियाँ कहलाती हैं।

"शकुन्तले! निश्चिन्त आज हूँ यद्यपि तुझसे,
सहा न जाता किन्तु विरह यह तेरा मुझसे।
अहो! गृहस्थ-समान मानता हूँ अपने को!
सच्चा-सा मैं आज जानता हूँ सपने को!

"सुते! तव-स्मृति-चिह्न तपोवन में बहुतेरे—
देते थे जो महामोद मानस में मेरे।
उदासीनता बढ़ा रहे हैं आज सभी ये,
कुछ के कुछ हो गये दृश्य सब अभी अभी ये!

"सारा आश्रम आज शून्यता दिखलाता है,
वन से भी वैराग्य-भाव बढ़ता जाता है!
वनदेवी-सी कौन विपिन में अब बिचरेगी?
मृग सन्तति अब किसे घेरकर खेल करेगी?

"कौन मालिनी-तीर नीर लेने जावेगी?
कौन मछलियाँ चुगा चुगाकर सुख पावेगी?
कौन प्रेम से पुष्प-वाटिका को सींचेगी?
कौन अचानक सखीजनों के दृग मींचेगी?

"कौन दौड़कर शीघ्र—उठाने को हीरे-से—
नीड़-च्युत खग पोत सँभालेगी धीरे-से ?
रंग रंग के वन विहंग पेड़ों से उड़कर—
बोलेंगे मृदु वचन बैठ किसके अंगों पर ?

"विना कहे ही कौन अखिल आलसता त्यागे—
रक्खेगी होमोपकरण वेदी के आगे ?
मेरे पथ के कौन कास-कण्टक चुन लेगी ?
कौन उचित आतिथ्य अतिथि लोगों को देगी ?

"वेदी खुदती देख हरिण शृंङ्गों के मारे—
'बेटी' कहकर किसे बुलाऊँगा मैं द्वारे ?
किसको आया देख शान्त वे हो जावेंगे ?
अपनी खोई हुई सम्पदा - सी पावेंगे।"

"जाने दूं, यह विषय और भी है दुखदाई ;
सुते ! धैर्य्य धर, बने मार्ग तेरा सुखदाई।
मेरा वह उपदेश कभी तू भूल न जाना ,
शील-सुधा से सींच जगत को स्वर्ग बनाना।"

यों कहकर जब मौन हुए मुनि सकरुण होकर—
शकुन्तला गिर पड़ी पदों में उनके रोकर।
"होंगे कब हे तात, तपोवन के दर्शन फिर ?"
इतना कहकर हुई दुःख से वह अति अस्थिर।

"रहकर चिरदिन भूमि सपत्नी, नृप की रानी,
रुके न जिसका मार्ग पुत्र पाकर कुलमानी।
करके उसका ब्याह, राज्य सिंहासन देकर—
आवेगी पति-संग यहाँ फिर तू यश लेकर।

"जब तू प्रिय के यहाँ सुगृहिणी पद पावेगी,
गुरु कार्य्यों में लीन सदा सुख सरसावेगी।
रवि को प्राची-सदृश श्रेष्ठ सुत उपजावेगी,
तब यह मेरा विरह-दुःख सब विसरावेगी।"

यों ही बहुविध उसे कण्व मुनि ने समझाया,
विदा किया, दो शिष्यवरों को संग पठाया।
गई गौतमी तपस्विनी भी पहुँचाने को—
उसका शुभ सौभाग्य देखकर सुख पाने को।

शकुन्तला घर गई, विपिन को सूना करके;
दोनों सखियाँ फिरीं किसी विध धीरज धरके।
मोरों ने निज नृत्य, मृगों ने चरना छोड़ा;
हिमगिरि ने भी बाष्प-वारि-सम झरना छोड़ा।

——

त्याग

पहुँची शकुन्तला जब प्रिय के
निकट हस्तिनापुर में,
उठने लगीं भावनाएँ तब
बहुविधि उसके उर में—
"देखूँ आर्य्यपुत्र अब मुझसे
मिलकर क्या कहते हैं?
हृदय! न शंकित हो, तुझ पर वे
सदा सदय रहते हैं।"

किन्तु सदय होकर भी प्रिय ने
निर्दयता दिखलाई
हाय! शाप-वश दुर्वासा के,
सुध न प्रिया की आई।
तो भी उचित समादर नृप से
मुनि-शिष्यों ने पाया,
कुशल-प्रश्न हो जाने पर यों
गुरु-सन्देश सुनाया—

"तुमने जो मेरी बेटी का
पाणिग्रहण किया है—
उसको हर्ष और सुखपूर्वक
मैंने मान लिया है।
शकुन्तला सत्क्रिया - मूर्ति है,
तुम सज्जन गुणशाली;
मिटी आज विधि की वह निन्दा
अनमिल जोड़ी वाली।

"हमें तपस्वी जान और निज
कुल भी श्रेष्ठ समझकर—
स्वजनोपाय विना ही तुमने
प्रेम किया जो इस पर।
तो तुम सभी रानियों के सम
इसे मानते रहना,
भाग्याधीन विशेष भाव पर
उचित नहीं कुछ कहना।"

यों कहकर मुनि-शिष्य हुए जब
मौन नृपति के आगे,
तब विस्मय के भाव शाप-वश
उसके मन में जागे।

सचकित-से—"यह क्या रहस्य है ?"
यही वचन वे बोले ;
शकुन्तला - नलिनी पर मानो
पड़े अचानक ओले !

कहा शार्ङ्गरव ने तब—"यह क्या ?
नृप ! तुम यह क्या कहते ?
शंकनीय होती सतियाँ भी
पिता - गेह में रहते !
अतः बन्धुजन यही चाहते ,
लोकाचार समझ कर—
पति के स्नेह विना भी प्रमदा
स्त्रियाँ रहें प्रिय के घर।"
कहा भूप ने तब—"क्या मेरा
ब्याह हुआ था इससे ?"
हा ! अब क्या था, शकुन्तला को
आशा रहती जिससे ?
पर बोली गौतमी कि "वत्से !
अब लज्जा मत मानें ,
ला घूँघट खोलूँ मैं, जिससे
तुझको पति पहचानें।"

अहा ! चन्द्र-सा निकला घन से ,
फैल गया उजियाला ;
शाप-विवश भी नृप के मन पर
पड़ा प्रभाव निराला !
त्याग और स्वीकार न कुछ भी
किया गया नरवर से ,
ओस-भरे कल-कुन्द-कुसुम के
वे हो गये भ्रमर-से !

लज्जा की लाली फैली थी ,
भोंहें तनिक चढ़ीं थीं ,
ग्रीवा नीची थी पर आँखें
नृप की ओर बढ़ी थी ।
कहती थीं मानो वे उनसे—
क्या हमको छोड़ोगे ?
आर्यपुत्र ! दो दिन पीछे ही
क्या यों मुहँ मोड़ोगे ।

चित्र लिखे - से रहे देखते
नृप दोनों दृग खोले ,
कहने पर फिर मुनि-शिष्यों के
धीरे धीरे बोले—

"याद नहीं आता है इसके
साथ ब्याह का होना,
हे ऋषियो! फिर समुचित है क्या
मुझे धर्म का खोना?"

अपने कर की ओर दृष्टि तब
शकुन्तला ने डाली,
पर अभाग्य, सूनी थी अँगुली
नाम मुद्रिका वाली।
विपदा पड़ने पर ऐसा ही
होता है भूतल में,
पथ में तीर्थाचमन-समय थी
गिरी अँगूठी जल में।

जिसने प्रकट देखने पर भी
तनिक नहीं पहचाना,
निष्फल ही है निश्चय उसको
अपनी याद दिलाना।
पर अपने लोकापवाद की
मन में चिन्ता करके—
बोली किसी भाँति वह प्रिय से
ज्यों त्यों धीरज धरके—

"पिया न था उस दिन जब मेरे
मृग ने तुमसे पानी,
मुझसे पीने पर तब तुमने
थी यह बात बखानी—
'सचमुच सहवासी को ही सब
कोई पतयाता है,'
लता-कुंज की इस घटना का
ध्यान तुम्हें आता है?"

बोले नृप—"होता है यों ही
विषयिजनों का मरना;
मुझे स-वंश चाहती है क्यों
तू यों दूषित करना?
मर्यादा को छोड़ नदी जो
है तट-विटपि गिराती—
वह अपना पानी बिगाड़कर
छबि-हीना हो जाती।"

ऐसे परुष वचन सुन पति के
क्षुब्ध हुई वह बाला,
भ्रू-मिस से उसने स्मर का-सा
चाप भंग कर डाला।

देख अकृतिम भाव भूप भी
लगे सोचने कारण,
मुनि-शिष्यों ने कहा अन्त में
कर निज कोप निवारण—

"प्रथम परीक्षा किये विना जो
प्रेम किया जाता है—
ठीक है कि वह वैर-भाव ही
पीछे प्रकटाता है।
जो हो, नृप! तू इसका पति है,
यह है तेरी नारी,
इसे छोड़ने या रखने का
है तू ही अधिकारी।"

कहकर यों मुनि-शिष्य वहाँ से
विदा हुए आश्रम को;
शकुन्तला क्या करे? कोसने
लगी दैव के क्रम को।
रोती रोती चली उन्हींके
पीछे वह बेचारी,
भ्रम-वश भी भूपति के मन में
उपजी ममता भारी।

कहा लौटकर ऋषियों ने—"यदि
सच है नृप का कहना—
तो कैसे सम्भव है तेरा
पिता - गेह में रहना ?
और आत्म-शुचिता पर तेरा
मन यदि है विश्वासी—
तो पति-गृह में ही निवास कर
बन कर भी तू दासी।"

चले गये मुनि शिष्य गौतमी-
सहित वहाँ से वन को,
मर्मान्तिक दुख हुआ गर्भिणी
शकुन्तला के मन को।
अपने हतविधि की ही निन्दा
की उसने रो रोकर ;
सतियाँ पति को नहीं कोसती
परित्यक्त भी होकर।

यही कहा उसने कि—"कहाँ
अब मैं अभागिनी जाऊँ ?
मां धरणी ! तू मुझे ठौर दे,
तुझमें अभी समाऊँ।"

प्रभामयी मेनका उसे तब
उड़ा ले गई आकर—
और कश्यपाश्रम में रखा
हेमकूट पर जाकर।

——

स्मृति

नृप-नाम मुद्रिका जो जल-मध्य जा गिरी थी—
जिससे शकुन्तला पर दुख की घटा घिरी थी।
पाई गई अनन्तर वह मीन के उदर में;
होकर पुनः प्रकाशित पहुँची महीप - कर में।

पाकर उसे अचानक झट जाग-से पड़े वे,
सुध आ गई प्रिया की, व्याकुल हुए बड़े वे।
तत्क्षण शकुन्तला का वह त्याग याद आया;
गम्भीर शोक छाया अनुराग याद आया।

धिक्कारने लगे तब सब भाँति आपको वे;
सहने लगे विवश हो अनुताप—ताप को वे।
सम्राट-भाव में भी अति दीन से हुए थे,
वीराग्रणी, बली भी गति हीन-से हुए वे!

"मृगलोचिनी प्रिया ने था जब तुझे जगाया—
जागा न, आप ही यों हा! आपको ठगाया।
अब दुःख भोगने को जागा सु-योग खोकर,
फटता नहीं हृदय! तू फिर भी विदीर्ण होकर!

"था स्वप्न या मति-भ्रम, माया कि हाय ! छल था ;
या दृश्यमान मेरा वह अल्प पुण्य-फल था ?
उसके पुनर्मिलन की अब है मुझे न आशा,
डूबी अथाह जल में मेरी मनोभिलाषा !

"थी सामने प्रिया जब देखा नहीं उसे तब,
आँसू बहा रहे हैं उसके लिए वृथा अब।
धिक्, ढोंग कर रहे हैं अब व्यर्थ ही विलोचन,
हा ! किस प्रकार होगा मेरा कलंक-मोचन ?

"सर्वस्व मानकर भी मैंने जिसे हटाया,
जो थी अभिन्न उसका गौरव स्वयं घटाया।
हा ! कौन जन करेगा विश्वास और मेरा ?
अपयश अवश्य होगा अब ठौर ठौर मेरा।

'जिस देव-दुर्लभा ने तन-मन मुझे दिया था,
सौभाग्य मान मैंने स्वीकृत जिसे किया था।
त्यागा उसे अकारण मैंने तनिक न चाहा,
होकर कुलीन मैंने अच्छा नियम निबाहा !

"रक्खा इधर प्रिया को मैंने न जब कुड़ककर,
त्यों छोड़कर चले जब मुनि-शिष्य भी घुड़ककर।
तब दृष्टि हाय ! उसने जो अश्रु-पूर्ण डाली—
वह डस रही मुझे है बनकर कराल व्याली।

"जो थी कुल-प्रतिष्ठा, निष्पाप धर्म-जाया,
मैं पुत्र-रूप में था जिसमें स्वयं समाया।
मुझ मूढ़ ने उसे हा! त्यागा तथापि ऐसे—
छोड़े सफल धरा को बोकर किसान जैसे!

"शुचि सौम्य मूर्ति वैसी विधी ने रची न होगी,
पर इस विपत्ति से वह जीती बची न होगी।
कैसा नृशंस हूँ मैं निज वंश-मूल घाती,
तजते हुए प्रिया को मेरी फटी न छाती।

"वह एक साधना भी निकली नितान्त झूठी,
कर छोड़कर प्रिया की जल में गिरी अँगूठी!
जड़ थी परन्तु वह तो रखती कहाँ विवेचन?
मैंने उसे छला क्यों होकर सजीव, चेतन?"

यों ही विलाप करके थे नृप अचेत होते,
चैतन्यलाभ में फिर थे पूर्व-तुल्य रोते।
वे स्वप्न का मिलन भी निद्रा बिना न पाते,
जो चित्र देखते तो थे अश्रु विघ्न लाते!

उद्यान में कभी वे उन्मत्त से विचरते,
करके स्मरण प्रिया का बहुविध विलाप करते।
बस देखकर लताएँ उसके समान कुछ कुछ—
करते विलोचनों को सन्तोष-दान कुछ कुछ।

माधव्य जो सखा था वह साथ साथ रहता,
वह भाँति सान्त्वना के अनुकूल वाक्य कहता।
उनका यही कथन था—"हे मित्र क्या करूँ मैं ?
ऐसे अनर्थ में हा ! अब धैर्य्य क्या धरूँ मैं ?"
सन्देह था कि प्यारी जीती रही न होगी,
हा ! कौन जी सकेगा ऐसी विपत्ति - भोगी ?
पर कुछ सुरांगनाएँ उसको जिला रहीं थीं—
प्रिय की दशा सुनाकर धीरज दिला रही थीं।

कर्तव्य

ध्यान कर करके प्रिया के त्याग का—
और उसके शील का अनुराग का।
नृप निरन्तर व्यग्र ही रहने लगे,
जी न सहने योग्य था सहने लगे।

सोचकर वह पूर्व की घटना सभी—
आत्मनिन्दा आप ही करते कभी।
रख प्रिया का चित्र जब तब सामने—
देखते वे आप भी प्रतिमा बने।

सुध न थी सुख-साज-बाज कहाँ गया,
और तो क्या राज काज कहाँ गया!
खान-पान कहाँ कि रुचि जाती रही,
सब गया बस याद ही आती रही।

कार्य्य सम्मति-योग्य जो होते कहीं—
सचिव-गण लिख भेजते उनको वहीं—
कर किसी विध चित्त संयत उस समय—
बाध्य हो आदेश देते धैर्य्य मय।

एक दिन संवाद आया यह नया—
"वणिक कोई डूब वारिधि में गया।
धन बहुत पर सुत-रहित आगार है,
अस्तु उस पर राज्य का अधिकार है।"
सोचकर मन में कहा तब भूप ने,
(धर्म्मधारी न्याय के नर-रूप ने।)
"गर्भिणी यदि हो वणिग्गृहिणी कहीं?
पूछकर देखो कि वह है या नहीं?"
"गर्भिणी निकली वणिग्गृहिणी सही,
तुष्ट होकर तब कहा नृप ने यही—
"ठीक है तो और कौन विचार है?
पित्र्य धन पर गर्भ का अधिकार है।"
न्याय में यद्यपि न कुछ संशय रहा—
किन्तु फिर तत्काल ही नृप ने कहा—
"यह नहीं, सन्तान हो अथवा न हो,
घोषणा के रूप में सबसे कहो—
"—'पापियों को छोड़कर, सुन लें सभी,
जिस स्वजन का हो वियोग जिसे कभी,
वह प्रजा दुष्यन्त को जाने वही,
और उसके स्थान में माने वही।"

घोषणा सर्वत्र यह कर दी गई,
सब प्रजा में प्रीति-सी भर दी गई।
पर हुई गति और ही नृप चित्त की,
सोचकर घटना वणिक के वित्त की।

"एक दिन पुरुवंश की भी सम्पदा—
(वृद्धशीला जो रही अब तक सदा।)
मुझ विना यों ही पड़ी रह जायगी,
कौन जाने काम किसके आयगी।

"धिक मुझे है प्राप्त सुख जो तज दिया,
आप ही अपकार पितरों का किया।
त्याग दी मैंने स्वगृहिणी गुणवती—
गर्भिणी, कुलरक्षिणी, रमणी, सती!

"पितर जितने हैं न होगी कल उन्हें,
कौन मेरे बाद देगा जल उन्हें?
आज भी हा! हा! सलिल मेरा दिया—
आँसुओं के साथ जाता है पिया!

"हा! गया मैं लोक से, परलोक से,"
नृप हुए यों कह विमोहित शोक से।
सजग होने पर हुई चिन्ता नई,
आर्तवाणी सुन पड़ी करुणामयी।

कण्ठ था माढव्य का करुणा भरा—
'दौड़ियो रक्षार्थ कोई, मैं मरा।'
व्यग्र हो देखा नृपति ने चौंककर,
पर न दिखलाई दिया कोई उधर।

सुन पड़ा फिर कण्ठ रव उनको नया—
'अब कहा दुष्यन्त नृप वह है गया?
वह अभयदानत्व उसका है कहाँ?
मारता हूँ देख मैं तुझको यहाँ!'

धनुष लेकर क्रोध से नृप ने कहा—
"ऐं मुझे भी वह चिनौती दे रहा!
शठ! भले ही तू न दीख पड़े मुझे—
देख लेगा किन्तु मेरा शर तुझे।"

छोड़ना न परन्तु उनको शर पड़ा,
सामने आकर हुआ मातिल खड़ा!
और बोला वह सहर्ष महीप से,
(एक धन्वी, धीर, पुरु-कुल-दीप से।)

"इन्द्र ने हैं दैत्य-गण दिखला दिये,
छोड़ना ये शर उन्हीं पर चाहिये!
सुजन सुहृदों पर न शस्त्र सँभालते,
प्रेम की ही दृष्टि उन पर डालते।

"आपको उत्तेजना हो इसलिये—
खेल ये माढव्य से मैंने किये।
क्षोभ में ही प्रकट होता दर्प है,
गरजता छेड़ें बिना कब सर्प है?"

भूप ने आदर किया सुर-सूत का।
कार्य फिर उससे सुना पुरहूत का।
"कालनेमि कुलस्थ एक अदेव गण—
कर रहा है देव-कुल से घोर रण।

"शक्र जीत सके न पाप-कलाप को,
कर रहे हैं याद इससे आपको।
दूर कर सकता नहीं रवि नैश तम,
पर मिटा देता उसे विधु एकदम।"

नृप हुए सन्तुष्ट इस उत्कर्ष से,
दिव्य रथ पर चढ़ चले वे हर्ष से।
प्रबल भाव सदैव ही प्रतिपक्ष का—
है प्रवर्द्धक वीर जन के वक्ष का।

———

मिलन

मिली जयश्री यदपि असुर संग्राम में ;
शकुन्तला ही रही किन्तु हृद्धाम में।
मिली न नृप को शान्ति, दैव का दोष था ,
देव कार्य्य कर सके यही सन्तोष था।

निज समान सम्मान अमरपति ने दिया ,
निज रथ में बैठाल विदा उनको किया।
चले देखते हुए भूप सुरलोक को ,
भूले वे उस समय हृदय के शोक को।

चित्त हरा हो गया देख नभ की छटा ,
घूम रही थी कहीं मनोरम घन घटा।
परिवह से सुरसरी कहीं थी बह रही ,
मृदु कलरव से मर्म्म कथा थी कह रही।

कान्ताओं के अंगराग से सुर कहीं—
लिखते हुए स्वगीत दृष्टि आये वहीं।
अपना यशोविकास स्वर्ग तक देखके—
हुआ उन्हें सन्तोष भाग्य ही लेखके।

बातें करते हुए शक्र के सूत से,
नीचे आते हुए व्योम-पथ पूत से।
दीख पड़ा भू-लोक उन्हें बढ़ता हुआ,
मानो उनकी ओर आप चढ़ता हुआ।

पूर्व और पश्चिम-समुद्र-मध्यस्थ सम—
हेमकूट ही उन्हें दृष्टि आया प्रथम।
सान्ध्यमेघ की अमल अर्गला-सी भली—
फैल रही थी जहाँ कनक-रेखावली।

अदित-सहित मारीच वहीं विख्यात थे,
जो ब्रह्मा के पौत्र, सुरासुर-तात थे।
पुण्याश्रम था तपःपूर्ण उनका वहीं,
वैसा शान्ति-स्थान स्वर्ग भी था नहीं।

करते थे तप कहीं तपस्वी जन बड़े;
अचल स्थाणु-समान सूर्यसम्मुख खड़े।
जटा जूट थे नीड़ खगों के बन गये,
दृश्य विलक्षण सभी वहाँ पर थे नये।

और वहाँ क्या था कि भूप को इष्ट हो?
वर्णन जिसका तथा यहाँ अवशिष्ट हो?
और वहाँ थी शकुन्तला सुमुखी वहीं—
नृप को जिसके विना शून्य थी सब मही।

शकुन्तला को वहाँ कौन आधार था ?
सर्वदमन सुत जो कि हृदय का सार था।
सर्वदमन के लिए वन्य पशु-वर्ग था,
जिसने क्रीड़ित उसे तुच्छ-सा स्वर्ग था।

किन्तु भूप को हाय ! न यह कुछ ज्ञात था,
कश्यप-दर्शन-योग मात्र प्रतिभात था।
उतरे वे तब वहाँ राज-मद से रहित—
और चले रथ छोड़ स्वयं मातिल-सहित।

बोला मातिल तनिक दूर चलकर वहाँ—
"इस अशोक के तले आप ठहरें यहाँ।
तब तक अवसर देख शीघ्र करके नमन—
इन्द्र-पिता से कहूँ आपका आगमन।"

ठहर गये नृप वहीं विटप की छाँह में,
हुआ विस्फुरण शकुन-रूप वर बाँह में।
याद आ गया कण्व-तपोवन फिर अहा !
लेकर एक उसाँस उन्होंने यों कहा—

"आशा भी अब सिद्ध मनोरथ की कहाँ ?
फड़क रहा फिर व्यर्थ अरे भुज क्यों यहाँ ?
पूर्वोपेक्षित सौख्य दुःख बनता अहो !
करने को उपहास अग्रसर तू न हो।"

यों कहते सुन पड़ी गिरा उनको वहीं—
"नहीं वत्स ! यह कार्य उचित तेरा नहीं ।"
चौंक पड़े वे समझ स्व-वाक्य विरोध सा ,
हुआ सामने देख दिव्य सुख-बोध-सा ।

दो तपस्विनी स्त्रियाँ जिसे समझा रहीं—
(नहीं वत्स, यह उचित कार्य्य तेरा नहीं ।)
दीखा शिशुवर एक सिंह को पीटता—
मातृ - स्तन से उसे सवेग घसीटता ।

खिला हुआ मुख कंज मंजु दशनावली ;
अरुण अधर, कलकण्ठ तोतली काकली ।
कोमल केश कलाप, धन्य विधु चातुरी ;
मुग्ध हुए नृप देख बाल छबि-माधुरी ।

धारे अनुपम चक्रवर्ति - चिह्नावली ,
कश्यप कृत संस्कार, सार्थनामा, बली ।
था वह बालक सर्वदमन नामक वही—
पाकर जिसको शकुन्तला थी जी रही ।

मूर्तिमान क्या तेज तपोवन का हुआ ?
कुछ विचित्र ही भाव भूप-मन का हुआ ।
लेकर फिर निश्वास उन्होंने यों कहा—
"किस सुकृती का पुत्र-रत्न यह है अहा !

"अरे हृदय ! जो लता उखाड़ी जा चुकी—
और उपेक्षा - ताप कभी की पा चुकी !
आशा क्यों कर रहा उसी के फूल की !
फल से पहले बात सोच तू मूल की।

"लेकर ऐसा गेह - रत्न जो गोद में—
करते है निज अंग घूसरित मोद में।
हैं वे ही जन धन्य धरा पर सर्वथा,
पर तेरा यह लोभ हाय अब है वृथा।"

सर्वदमन ने कहा उधर रस घोलके—
"सिंह ! मुझे तू दाँत गिना, मुहँ खोलके।"
यों कह वह तेजसी हुआ हर्षित बड़ा,
इन्धनार्थ अंगार सजग मानो खड़ा !

मातृ रूपिणी तपस्विनी ने फिर कहा—
"रे उद्धत ! यह क्या अनर्थ तू कर रहा ?
हम तो इन पर पुत्र-तुल्य रखतीं दया ;
सर्वदमन तब नाम ठीक रक्खा गया।

"छोड़ेगा यदि तू न इसे हठ-दोष से,
झपटेगी तो अभी सिंहनी रोष से।"
सर्वदमन ने कहा मुहँ बना—"क्यों नहीं—
डरता जो हूँ सिंह देख मैं सब कहीं !"

जड़ीभूत-से मुग्ध देखते नृप रहे,
मृदुल वचन फिर तपस्विनी ने यों कहे—
"वत्स ! छोड़ दे इसे, तरस आता मुझे,
दूंगी कोई और खिलौना मैं तुझे।"

एक तापसी गई खिलौने के लिये,
बोला बालक सिंह-केश-कर्षण किये—
"खेलूँ तब तक इसी सिंह से मैं यहाँ,"
यों कहकर वह हँसा भेद-पूर्वक वहाँ।

बोली तब वह तपस्विनी नरपाल से—
"भद्र! बचाओ इसे तुम्हीं इस बाल से,"
समझाकर तब सर्वदमन को नीति से,
बोले उसका हाथ पकड़ नृप प्रीति से—

"एक वार इस किसी धन्य कुल-धन्य को—
छूकर इतना हर्ष हुआ मुझ अन्य को।
होता होगा हर्ष उसे कितना बड़ा—
यह जिसके अंकस्थ हुआ इतना बड़ा!"

तपस्विनी ने कहा कि "यह पुरु-वंश है—
तब तो इसका अभी तेज का अंश है।
है इसका मुख किन्तु तुम्हारा-सा अहा!
और मान भी गया तुम्हारा यह कहा!"

सुन निज कुल का नाम भूप शंकित हुए,
मन में बहु विध तर्क-भाव अंकित हुए।
पर बोले वे प्रकट तापसी से वहाँ—
"आ सकता है मनुज आप कैसे यहाँ?"

बोली फिर वह तपस्विनी ममतायुता—
"है इसकी माँ किन्तु मेनका की सुता।"
आशा पूर्वक पुनः प्रश्न नृप ने किया—
"हे वह किस राजर्षि वीरवर की प्रिया?"

'शकुन्तला-सी एक सती सहधर्मिणी—
त्यागी जिसने व्यर्थ; जो कि थी गर्भिणी।
उसका श्रुत भी नाम जाय कैसे लिया?"
साफ साफ उस तपस्विनी ने कह दिया।

"मैं ही हूँ वह, महानिन्द्य, अविनीत हा!
होगा मुझ-सा और कौन अपगीत हा!"
यों कहकर दुष्यन्त वहीं पर गिर पड़े,
रह सकते थे भला कभी वे स्थिर खड़े?

था यह भी सौभाग्य किन्तु उनके लिए,
विधि ने फिर यों सुदिन फेर उनके दिये।
प्राप्त किया जब चेत उन्होंने, मोद में—
पाया निज को शकुन्तला की गोद में।

"मिटा मोह-तम, आज मिले सब सुख मुझे,
धन्य-भाग्य जो सुमुखि ! देखता हूँ तुझे !
मिट जाने पर ग्रहण-रूप विधु की व्यथा—
मिल जाती है उसे रोहिणी फिर यथा।"

शकुन्तला को ज्ञान न अपना भी रहा,
"आर्य्यपुत्र की"—यही मात्र उसने कहा।
'जय हो' निकला नहीं, गिरा कि गति रुकी,
बोले नृप "वह मुझे प्रथम ही मिल चुकी।"

"व्रत करने से बड़ी अंग-कृशता बड़ी
सिर पर उलझी हुई एक वेणी पड़ी।
धूल भरे तनु - वस्त्र मलिन - से हो रहे,
तूने मेरे लिये हाय ! ये दुख सहे ?

"भूल प्रिये, अपमान, मुझे था भ्रम हुआ ;
किसी पाप-वश महामोह का क्रम हुआ ;
मुझे क्षमा कर सुतनु ! दया का दान कर,
हार फेकता अन्ध भुजंगम जानकर !"

पैरों पर गिर पड़े प्रिया के भूपवर,
शकुन्तला ने कहा क्षमा का रूप धर—
"उठो नाथ ! वह कुछ न तुम्हारा दोष था
मुझ पर ही अज्ञात दैव का रोष था।"

इसी समय पुरुहूत - सूत आया वहाँ,
एक अपूर्वानन्द - भाव छाया वहाँ।
कश्यप - दर्शन किये सभीने फिर वहाँ,
मनमाने वर लिये सभीने फिर वहाँ।

दुर्वासा का शाप-भेद भी खुल गया—
अतः मनोमालिन्य भूप का घुल गया।
आये पत्नी, पुत्र सहित जब गेह वे,
बने शान्ति, सुख और स्वयं सुस्नेह वे।

सर्वदमन ने जीत अन्त में सब मही—
प्रजा भरण से 'भरत' नाम पाया सही।
भारत भारत बना उन्हींके नाम से,
अमर हुआ यों कौन गुणों के ग्राम से?

भारत! अब वह समय तुम्हें क्या याद है?
होता उसका कभी सहर्ष विषाद है?
वे दिन अब क्या तुम्हें मिलेंगे फिर अहो!
इसका उत्तर और कौन देगा कहो?

श्रीमैथिलीशरणजी गुप्त लिखित काव्य—

जय भारत	१२.५०	नहुष	१.५०
साकेत	१०.००	प्रदक्षिणा	.७५
गुरुकुल	५.००	पञ्चवटी	.७५
यशोधरा	४.००	हिडिम्बा	१.००
द्वापर	४.००	अञ्जलि और अर्घ्य	१.००
हिन्दू	४.००	राजा-प्रजा	१.००
विष्णुप्रिया	३.००	पृथिवीपुत्र	१.००
उच्छ्वास	३.००	युद्ध	१.००
लीला	२.५०	शकुन्तला	१.००
भारत-भारती	४.००	गुरुतेगबहादुर	१.००
त्रिपथगा	३.००	विश्व-वेदना	.७५
झंकार	३.००	वक-संहार	.७५
चन्द्रहास	२.५०	वनवैभव	.७५
तिलोत्तमा	२.००	सैरन्ध्री	.७५
कुणाल-गीत	२.००	किसान	.७५
अजित	२.००	पत्रावली	.७५
सिद्धराज	१.४६	अर्जन और विसर्जन	.७५
काबा और कर्बला	२.००	वैतालिक	.७५
रत्नावली	२.००	शक्ति	.७५
अनघ	२.००	रङ्ग में भङ्ग	.७५
जयद्रथ-वध	१.००	विकट-भट	.५०
		भूमि-भाग	.५०

अनुवादित ग्रन्थ—

मेघनाद-वध	१२.००	प्रतिमा	५.००
वृत्र-संहार	१०.००	अविमारक	५.००
पलासी का युद्ध	५.००	अभिषेक	४.००
वीराङ्गना	४.००	रुबाइयात उमर खय्याम	१.५०
स्वप्न वासवदत्ता	२.००	विरहिणी-व्रजाङ्गना	.७५

प्रबन्धक—साहित्य-सदन, चिरगाँव (झाँसी)

श्रीसियारामशरणजी गुप्त की रचनाएँ—

अमृतपुत्र (कविता)	२.५०	अन्तिम-आकांक्षा (उपन्यास)	४.००
दूर्वादल "	२.००	गोद "	४.००
बापू "	२.००	मानुषी (कहानी-संग्रह)	२.००
आत्मोत्सर्ग "	१.५०	पुष्य-पर्व (नाटक)	१.५०
दैनिकी "	१.५०	उन्मुक्त (गीतिनाट्य)	३.००
नोआखाली में"	१.००	गीता-संवाद	१.५०
विषाद "	१.००	बुद्ध-वचन	३.००
मौर्य्य-विजय "	.७५	गोपिका	६.००
अनाथ "	.७५	सुनन्दा	४.००
जयहिन्द "	.५०	नकुल	३.००
हमारी प्रार्थना "	.०५	पाथेय (कविता)	३.००
मृण्मयी (कविता)	४.००	आर्द्रा "	३.००
झूठ-सच (निबन्ध)	४.००		
नारी (उपन्यास)	५.००		

अन्यान्य प्रकाशन—

विनोबास्तवन (ले० बालकृष्ण शर्मा 'नवीन)			२.००
साकेत के नवमसर्ग का काव्य वैभव			३.५०
हिन्दी की प्रतिनिधि कहानियाँ			३.००
कवि-भारती	३०.००	भारतीय वाङ्मय	२५.००
कवि-भारती बंगला	२०.००	कयमास-वध	३.००
पृथ्वीराज रासउ	३०.००	पुष्करिणी (भाग २)	४.००
पदमावत	३०.००	रीति शृङ्गार	१०.००
कीर्तिलता	१५.००	अब्दुर्रहीम खानखाना	२०.००

भारत की राष्ट्रीय संस्कृति (लेखक—डा० आबिद हुसैन) ५.००

कविश्री प्रत्येक १.००

कालिदास, भास, मैथिलीशरण गुप्त, जयशंकर 'प्रसाद', बालकृष्णराव सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला', सुमित्रानन्दन पन्त, महादेवी वर्मा, रामधारीसिंह 'दिनकर', सियारामशरण गुप्त, 'अज्ञेय', नरेश मेहता

प्रबन्धक—साहित्य-सदन, चिरगाँव (झाँसी)

INSTITUTE OF ADVANCED STUDY
Acc. No. 10096
Date
SIMLA

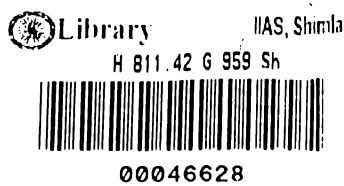
Library IIAS, Shimla
H 811.42 G 959 Sh
00046628